

### ५३३. सम्बोधने च २।३।४७॥

इह प्रथमा स्यात्। हे राम!

॥ इति प्रथमा॥

सम्बोधने च। सम्बोधने सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा से प्रथमा का अनुवृत्ति आती है।

प्रातिपदिकार्थ के साथ सम्बोधन की अधिकता गम्यमान होने पर भी प्रथमाविभक्ति ही होती है।

सम्मुखीकरण अर्थात् दूर से बुलाने को अथवा अपनी ओर अभिमुख करने को सम्बोधन कहते हैं। प्रातिपदिकार्थ से अधिक अर्थ की प्रतीति होने के कारण उसका पृथक् निर्देश किया गया है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग करने के लिये सम्बोधन का आश्रय लिये जाता है। ध्यान रहे कि सम्बोधन के लिये प्रयुक्त विभक्ति की सामन्त्रितम् सूत्र से आमन्त्रितसंज्ञा भी होती है।

हे राम! यहाँ पर राम शब्द से सम्बोधन अर्थ में सम्बोधने च से प्रथमा, एकत्वविवक्षा में सु, उसका एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः से लोप, हे का पूर्वप्रयोग करके हे राम! सिद्ध हो जाता है। यद्यपि हे शब्द के बिना भी सम्बोधन की प्रतीति होती है तथापि स्पष्टता के लिये हे, अयि, भोः इत्यादि शब्दों का पूर्वप्रयोग किया जाता रहा है।

सम्बोधन के अर्थ का क्रिया में अन्वयबोध होता है। इसके फलस्वरूप आगे कही जाने वाली बात का अध्याहार होकर उसके साथ एकवाक्यता की जाती है। अतः मां पाहि (मेरी रक्षा करो) आदि वाक्यांश से इसकी पूर्ति की जाती है। इस प्रकार हे राम! मां पाहि इत्यादि वाक्यप्रयोग होते हैं। इस प्रकार सम्बोधित राम से रक्षा करने की प्रार्थना अभीष्ट है। यहाँ पर राम कहने से प्रातिपदिकार्थ व्यक्तिविशेष दशरथपुत्र राम का ज्ञान तो होता है किन्तु अभिमुखीकरण रूप अर्थ की अधिकता होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा सम्भव नहीं थी, अतः पृथक् सूत्र का प्रणयन किया गया है।

### ५३४. कारके १।४।२३॥

इत्यधिकृत्य।

कारके इति सप्तम्यन्तमेकपदमधिकारसूत्रम्। यह अधिकारसूत्र है। कारके में सप्तमी प्रथमार्थ में है। अतः आगे जो-जो सूत्र कहे जायेंगे, उनमें कारके इस पद का सम्बन्ध जानना चाहिए अर्थात् उन-उन सूत्रों में इसका अधिकार होता है। इसका अधिकार अष्टाध्यायीक्रम से तत्प्रयोजको हेतुश्च (१.४.५५) के पहले तक रहता है। इसके फलस्वरूप अपादान आदि संज्ञाविधान करने वाले सूत्रों में कारके का प्रभाव पड़ने से कारकं सत् कर्मसंज्ञकम् इत्यादि अर्थ बनते हैं। अतः कर्म, कर्ता, करण आदि कारक कहलाते हैं। कारक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- करोति इति कारकम् (करने वाला)। यहाँ डु कृञ् करणे (कृ) धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल्तृचौ सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय होने पर उसके स्थान पर अकादेश और धातु के ऋकार को आर्धधातुक गुण, रपर होकर कारक शब्द बना है। क्या करने वाला है? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये करोति का अर्थ क्रियां निर्वर्तयति (क्रिया को सम्पन्न करता है) यह किया जाता है। अर्थात् क्रिया-सम्पादन में जो-जो भी कारण बनते हैं, वे सभी कारक कहलाते हैं, बशर्ते वे कारण अन्यथासिद्ध नहीं होने चाहिये। अन्यथासिद्ध का तात्पर्य है- जिसके न रहने पर भी क्रिया सम्पन्न हो जाय, वह। अत एव ब्राह्मणस्य पितरं प्रणमति इत्यादि वाक्य में प्रणमन-क्रिया-जनकत्व (सम्पादकत्व) ब्राह्मण में न होने से वह कारक नहीं कहलाता। अपादानादि के विशेष होने से कारक यह संज्ञा तथा अधिकार दोनों रूपों में ग्राह्य है।

कारक के दो लक्षण प्रसिद्ध हैं- प्रथम. क्रियां निर्वर्तयति (जनयति) सम्पादयतीति कारकम् और द्वितीय. क्रियान्वयित्वं कारकम्। प्रथम लक्षण नागेश जी का तथा द्वितीय लक्षण दीक्षित जी का है, दोनों का तात्पर्य एक ही रहता है फिर भी भाष्य में करोतीति कारकम्, करोति निर्वर्तनार्थकः कहे जाने के कारण नागेश जी के लक्षण में समर्थन देते हैं।

### ५३५. कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९॥

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

**कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः। तमब्रह्मणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्।**

**कर्तुरीप्सिततमं कर्म।** अतिशयेन ईप्सितम् ईप्सिततमम्। कर्तुः षष्ठ्यन्तम्, ईप्सिततमं प्रथमान्तं, कर्म प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **कारके** का अधिकार है और उसका प्रथमान्त में विपरिणाम करके **कारकम्** बना लिया जाता है।

**कर्ता** को अपनी क्रिया के द्वारा जो अत्यन्त इष्ट हो अर्थात् जिसे वह विशेषरूप से प्राप्त करना चाहता है, उस **कारक** की कर्मसंज्ञा होती है।

**कर्म** संज्ञा (विधेय) और **कर्तुः ईप्सिततमम्** संज्ञी (उद्देश्य) है। **ईप्सित** का अर्थ है **इष्ट** और ईप्सित-शब्द से तमप्-प्रत्यय होकर **ईप्सिततमम्** बना है। उसका अर्थ होगा- जो सबसे अधिक इष्ट है। **आप्**-धातु से **आप्तुं सम्बद्धमिच्छति** विग्रह में सन्-प्रत्यय तथा **आज्ञाप्यधामीत्** सूत्र से ईत्त्व होकर अभ्यासलोपादि से **ईप्स** बना। उससे **मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** में पठित चकार के बल से वर्तमानार्थ में क्त-प्रत्यय, इडागमादि कार्य होकर **ईप्सित** बना। उससे पुनः **अतिशयेन ईप्सितम्** विग्रह में **अतिशायने तमबिष्ठनौ** से तमप्रत्यय होकर **ईप्सिततम्** बनता है। इसके योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** सूत्र से **कर्तुः** के पहले षष्ठी प्राप्त थी, उसका **न लोकाव्ययनिष्ठाखर्लतृनाम्** से निषेध होता है, उसके पश्चात् पुनः **क्तस्य च वर्तमाने** सूत्र से षष्ठी हुयी है। अधिकृत **कारके** पद से **क्रियया** पद अर्थतः उपलब्ध होता है अर्थात् स्वनिष्ठ-क्रिया के द्वारा जो कर्ता को सर्वाधिक इष्ट हो।

धातु के द्वारा उपात्त=गृहीत व्यापार(क्रिया) का आश्रय **कर्ता** होता है। किसके द्वारा अतिशय, सर्वाधिक इष्ट? कर्तृविशेषणीभूत व्यापार के द्वारा अतिशय इष्ट होना चाहिये। उसकी कर्मसंज्ञा इस सूत्र से की जाती है।

**विशेष ध्यातव्यः-** धातु के दो अर्थ होते हैं- फल और व्यापार (क्रिया)। व्यापार जिसमें रहता है, उसे कर्ता और फल जिसमें रहता है, उसे कर्म कहते हैं। यहाँ कर्ता और कर्म का सम्बन्ध बताया जा रहा है। इस सूत्र के तात्पर्य को एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं- **कर्ता स्वनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलेन सम्बद्धमिष्टमाणां यत् तत् कर्म। १. कर्ता का व्यापार, २. व्यापार से निष्पन्न होने वाला फल और ३. फल का आश्रय कर्म।** इस प्रकार तात्पर्यार्थ निकलता है कि प्रयुक्त जो धातु, उसका जो व्यापार, उस व्यापार से प्रयोज्य जो फल, उस फल का आश्रय कर्म है। कर्ता को इस कर्म से सम्बद्ध होने के लिये क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। अतः वृत्ति में **कर्तुः क्रियया आप्तुं=सम्बद्धम् इष्टमाणां** कहा गया। आगे कुछ उदाहरणों से यह ठीक से समझ में आ जायेगा।

एक वाक्य में **कर्ता, कर्म और क्रिया** ये तीन या तीन से अधिक भी कारक होते हैं। इसमें कर्म कौन सा है? यह जानने के लिए इस सूत्र का सहारा लिया जाता है। जैसे **रामः पुस्तकं पठति** इस वाक्य में **पठति** यह क्रिया है और **रामः** यह कर्ता है। राम कर्ता को पठनक्रिया द्वारा अत्यन्त इष्ट है **पुस्तक**, अतः **पुस्तक** की कर्मसंज्ञा होती है। इसी प्रकार **देवदत्तः पत्रं लिखति** में कर्ता **देवदत्त** को लेखनक्रिया द्वारा अत्यन्त अभीष्ट है **पत्र**, अतः **पत्र** की कर्मसंज्ञा हुई। कर्मसंज्ञा का फल **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया विभक्ति का विधान करना है।

**ईप्सित** शब्द से अतिशयता अर्थ में तमप् प्रत्यय होकर **ईप्सिततम्** बना है। इसका अर्थ है- सम्बद्ध होने के लिये अत्यन्त अभीष्ट।

**कर्तुः किम्? माषेषु अश्वं बध्नाति।** प्रकृतसूत्र में **कर्तुः** पद का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का आशय यह है कि **कर्तुः** इस पद के अभाव में भी **कारके** के अधिकार के कारण व्यापार=क्रिया अर्थ का लाभ होता ही है। ऐसी अवस्था में **कर्तुः** पद कहीं व्यर्थ तो नहीं है? इस प्रश्न का समाधान करते हुये कहते हैं कि बिल्कुल व्यर्थ नहीं है, क्योंकि **माषेषु अश्वं बध्नाति** में **माष-**शब्द की कर्मसंज्ञा को रोकने के लिये उक्त पद की नितान्त आवश्यकता होती है। अर्थात् **कर्तुः** पद के बिना तो **कारके** का अधिकार होने से 'व्यापार-प्रयोज्य फल का जो आश्रय है, वह कर्म है' ऐसा अर्थ बनेगा और यह व्यापार कर्ता का हो या कर्म का- इस सम्बन्ध में नियम न बनने से कर्मनिष्ठव्यापार से प्रयोज्य फलाश्रय की कर्मसंज्ञा होने लगेगी। जैसे कि **रामो माषेषु अश्वं बध्नाति** (राम ऊड़द के खेत में घोड़े को बाँधता है)। यहाँ पर कर्तृपद है- **रामः**, क्रियापद है- **बध्नाति**, कर्ता को बन्धनक्रिया द्वारा इष्टतम कारक है **अश्व**। अतः **अश्व** शब्द की **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** सूत्र से कर्मसंज्ञा होकर **कर्मणि द्वितीया** सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। यदि प्रकृत सूत्र में **कर्तुः** पद न दिया जाय तो सूत्र का अर्थ होगा- कर्ता, कर्म, करण आदि किसी के भी इष्टतम की कर्मसंज्ञा होती है। ऐसा अर्थ मानने पर **अश्व** की कर्मसंज्ञा होने में तो कोई आपत्ति नहीं है किन्तु कर्मपद जो **अश्व**, उसका इष्टतम **माष** है, उसकी

भी कर्मसंज्ञा होने लगेगी और कर्मसंज्ञा होकर द्वितीयाविभक्ति हो जायेगी, जिससे **माषान् अश्वं बध्नाति** ऐसा अनिष्ट रूप होने लगेगा। अतः केवल कर्ता के लिये जो इष्टतम है, उसी की कर्मसंज्ञा हो और और कर्म आदि के इष्टतम की कर्मसंज्ञा न हो, एतदर्थ प्रकृतसूत्र में **कर्तुः** पद का होना नितान्त आवश्यक है। यहाँ **माष** कर्मभूत **अश्व** के लिये प्रसज्जन (आसक्त होना) रूप व्यापार के द्वारा सम्बद्धम् इष्ट है। कर्ता तो बध्-धात्वर्थ बाधन-क्रिया द्वारा सम्बद्धमिष्ट माष नहीं है। अतः इसकी कर्म सज्ज्ञा न हुई। आधार होने से अधिकरण सज्ज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति होने से **माषेषु** बन जाता है। यद्यपि **माषेष्वश्वं बध्नाति** का माष-नाश न हो, इसके लिये 'माष में प्रसक्त अश्व को अन्यत्र बाँधता है' अर्थ करने पर रक्षणक्रिया **माष** भी कर्ता राम को इष्ट ही है, क्योंकि घोड़ा माष की फसल को न खाने पावे, इस लिये खेत में घोड़े की स्वतन्त्रता का हनन करते हुये उसे बन्धन में रखता है, फिर भी बन्धन-क्रिया द्वारा कर्ता को अश्व ही इष्टतम है, न कि माष। हाँ, रक्षणक्रिया द्वारा कर्ता को माष भी इष्टतम ही होता है किन्तु प्रकृत वाक्य में रक्षणक्रिया का प्रयोग न होकर बन्धनक्रिया का प्रयोग हुआ है। अतः बन्धनक्रिया द्वारा जो इष्टतम हो, उसी की कर्मसंज्ञा हो जाती है।

**कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः।** अर्थात् कर्मभूत **अश्व** के लिये माष इष्टतम हैं किन्तु कर्तृभूत राम आदि के लिये **माष** बन्धनक्रिया द्वारा इष्टतम नहीं है। माषभक्षण में उन्मुख घोड़े को अधिक माष खाने से उसके पेट पीड़ा हो, एतदर्थ राम घोड़े को बाँध देता है- यह **माषेष्वश्वं बध्नाति** इस वाक्य का तात्पर्य है। इस तरह माष में कर्मत्व की निवृत्ति के लिये प्रकृतसूत्र में **कर्तुः** पद सार्थक हो जाता है।

**तमग्रहणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते।** अर्थात् **ईप्सिततमम्** शब्द में अतिशायने तमविष्टनौ सूत्र से अतिशायन अर्थ में **तमप् (तम)** प्रत्यय हुआ है। यहाँ तमप् का अर्थ तमबन्त। अतः यह प्रश्न है कि **कर्तुरुद्देश्यं कर्म** ऐसा पाठ कर देने से ही सर्वत्र कर्मसंज्ञा की सिद्धि हो जाती, पुनः **ईप्सिततमम्** यह तमबन्त पद क्यों पढ़ा गया? इसके उत्तर में कहते हैं- **पयसा ओदनं भुङ्क्ते**=दूध से भात खाता है। अर्थात् यदि **कर्तुरुद्देश्यं कर्म** सूत्रस्वरूप होता तो उक्त वाक्य में **ओदन** की तरह ही **पयः** के भी भोजनक्रिया द्वारा कर्ता का उद्देश्य होने से कर्मसंज्ञा हो जाती, जो कि इष्ट नहीं है। यह वाक्य उस समय के लिये प्रयुक्त है, जब लगभग भोजन कर चुका व्यक्ति दूध मिलने के बाद पुनः और ओदन ले लेता है। ओदन के निगलने में दूध सहायक है। यदि दूध मात्र इष्टतम होता तो दूध मिलने के बाद और चावल नहीं लेता। इससे सिद्ध होता है कि कर्ता के लिये भले ही दूध इष्ट हो किन्तु **ओदन** सर्वाधिक इष्ट (इष्टतम) है। अतः **ओदन** कर्म सज्ज्ञा होती है किन्तु ईप्सितों में सर्वाधिक ईप्सित न होने के कारण **पयस्** की कर्मसंज्ञा नहीं होती। ओदन-भोजन में व्यक्ति ओदन के लिये सहायक होने के कारण इसकी करणसंज्ञा होकर तृतीयाविभक्ति हो जाती है- **पयसा।**

यहाँ **पयः** के उद्देश्य से ओदन-भोजन में व्यक्ति की प्रवृत्ति होने से उद्देश्यत्वात् **पयः** की कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है। अतः **उद्देश्य** न कहकर **ईप्सितम्** कहें तो उसके कर्मसंज्ञा की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ईप्सिततम पद के ग्रहण से 'कर्तृव्यापारप्रयोज्य फल का आश्रय कर्म हो' यह अर्थ बनता है और यहाँ **पयः** ओदन-भोजन क्रिया का प्रकृष्टोपकारक तो है किन्तु भोजनक्रिया से प्रयोज्य जो गलविलाधःसंयोग रूपी फल है, उसका आश्रय नहीं है। अतः **ईप्सिततम** न होने से नहीं होती अनिष्ट स्थलों में कर्मसंज्ञा की आपत्ति। ओदन तो भोजनरूपी कर्तृव्यापार से प्रयोज्य गलविलाधःसंयोग रूपी फल का आश्रय होने से कर्ता का इष्टतम है, अतः कर्मसंज्ञा हो जाती है।

पुनः प्रश्न होता है कि ठीक है **उद्देश्यम्** कहते से दोष है तो केवल **ईप्सितम्** ही पाठ होना चाहिये। उसमें तमप्-प्रत्यय के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान भाष्य बताया गया है कि **अग्नेः माणवकं वारयति** (अग्नि से बच्चे को बचता है) इस वाक्य में **माणवक** शब्द की **वारणार्थानामीप्सितः** सूत्र से प्राप्त अपादानसंज्ञा की निवृत्ति के लिये प्रकृतसूत्र में **तमप्** प्रत्ययान्त **ईप्सितम्** की आवश्यकता है, क्योंकि निवारणार्थक धातु के प्रयोग में उक्त सूत्र से ईप्सित मात्र की अपादानसंज्ञा प्राप्त होती है।

**कर्म इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्।** प्रकृत सूत्र में अष्टाध्यायीक्रम के पूर्वसूत्र **अधिशीङ्स्थासां कर्म** (१. ४.४६) से **कर्म** पद की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी प्रकृत में **कर्म** के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान मूल में किया गया है- **आधारनिवृत्त्यर्थम्।** अर्थात् प्रकृत सूत्र में पूर्वशास्त्र से **कर्म** पद की अनुवृत्ति करने पर उसके साथ सम्बद्ध **आधार** शब्द जो कि **आधारोऽधिकरणम्** से उक्त सूत्र में अनुवृत्त है, वह **आधार** शब्द भी कर्म-शब्द के साथ-साथ आने लगेगा। इस तरह **आधारः** पद की निवृत्ति के लिए प्रकृतसूत्र में **कर्म** पद का पुनः प्रयोग किया गया है।

**अन्यथा गेहं प्रविशति इत्यत्रैव स्यात्।** अन्यथा=यदि प्रकृतसूत्र में **कर्म** पद का पुनः ग्रहण न करते और पूर्वसूत्र से ही **कर्म** शब्द की अनुवृत्ति कर लेते तो कर्म-शब्द के साथ **आधारः** पद की भी अनुवृत्ति आ जाने से **आधारभूत** की ही **कर्मसंज्ञा**

होती। ऐसी अवस्था में **गेहं प्रविशति** (घर में प्रवेश करता है) इस वाक्य में **गेह** की तो कर्मसंज्ञा हो जाती है, क्योंकि यहाँ प्रवेश क्रिया का आधार **गेह** ही है। यहाँ **गेह** आधार भी तथा कर्ता राम आदि की प्रवेश-क्रिया के द्वारा सम्बद्धम् इष्टतम अर्थात् कर्तृनिष्ठव्यापार- प्रयोज्य गृहसंयोग रूप फल का आश्रय भी है। यदि प्रकृतसूत्र में **कर्म** पद का योग न होता तो यहाँ **गेहं प्रविशति** जैसे आधारयुक्त इष्टतम की कर्मसंज्ञा तो हो जाती किन्तु **पयसा ओदनं भुङ्क्ते** आदि स्थलों पर अनाधार **ओदन** आदि की कर्मसंज्ञा न हो सकेगी। इसी तरह **राम ओदनं पचति** में पाकक्रिया द्वारा कर्ता का ईप्सिततम **ओदन** है किन्तु वह पचन-क्रिया का आधार नहीं है। अतः यहाँ कर्मसंज्ञा न हो सकेगी। एतदर्थ प्रकृतसूत्र में पुनः कर्म-शब्द के ग्रहण की सार्थकता हो जाती है।

**विशेष ध्यातव्यः-** हमारे शास्त्र में अधिकार या अनुवृत्ति द्विविध होते हैं- शब्दाधिकार और अर्थाधिकार। शब्दाधिकार में अर्थरहित केवल शब्द अधिकृत या अनुवृत्त होता है, जबकि अर्थाधिकार में अर्थसहित शब्द अधिकृत या अनुवृत्त होता है। प्रकृतसूत्र में भी **कर्म** पद का अर्थाधिकार मानने पर उक्त शंका-समाधान सही है किन्तु शब्दाधिकार मानने पर पूर्वसूत्र से **कर्म** की अनुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध हो जाता, इस सूत्र में कर्म-ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा।

सामान्यतः कर्म दो प्रकार के हैं- ईप्सित और अनीप्सित। उनमें ईप्सित कर्म तीन प्रकार के होते हैं- **निर्वर्त्य**, **विकार्य** और **प्राप्य**।

**निर्वर्त्य कर्म।** निर्वर्त्य अर्थात् उत्पाद्य कर्म वहीं होते हैं, जहाँ सर्वथा नवीन वस्तु का निर्माण होता है। जैसे कि **घटं करोति**। यहाँ अपनी उपस्थिति से पूर्व **घट** विद्यमान नहीं था। घट का सर्वथा नवीन निर्माण हुआ है। अतः **घट** निर्वर्त्य=सम्पाद्य, उत्पाद्य कर्म है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

**विकार्य कर्म।** विकार्य कर्म में पूर्व विद्यमान वस्तु का बाद में विकार=परिवर्तन देखा जाता है। जैसे कि **पयः दधि करोति**। यहाँ **पयस्** पूर्व में विद्यमान है तथा **दधि** उसका विकार मात्र है, नवीन निर्माण नहीं है। अतः **दधि** को विकार्य कर्म माना जाता है।

**प्राप्य कर्म।** जहाँ व्याप्ति और व्यतिरेक के द्वारा क्रियागत विशेषता न हो, उसे प्राप्य कहते हैं। जैसे कि **ग्रामं गच्छति**। यहाँ **ग्राम** न तो सर्वथा नूतन निर्माण है और ना ही पूर्व विद्यमान किसी वस्तु का विकार है। किसी व्यक्ति के ग्राम में पहुँचने के बाद भी ग्राम में किसी प्रकार का विकार, उत्पादन क्रियाकृत विशेषता की प्रतीति नहीं है किन्तु कर्ता ग्राम को पहुँच गया है, इतना मात्र ज्ञान होता है। अतः यह प्राप्य कर्म माना जाता है।

अनीप्सित कर्म तो **द्वेष्य** और **उपेक्ष्य** कर्म के भेद से द्विविध है। जिनका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। उनके अतिरिक्त अन्य दो प्रकार के कर्म होते हैं- अविवक्षित कर्म और शब्दविशेष के योग में होने वाले कर्म। इनका विवरण भी आगे किया जायेगा। इस प्रकार कर्म कुल सात प्रकार के होते हैं।